आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
www.grefiglobal.org/journals/navrachna2016
वर्ष 2, अंक 1–2, जून–दिसम्बर 2016, पृ. 37–43

सामाजिक व्यवस्था : एक समग्रवादी दृष्टिकोण

श्रीपाल चौहान*

समाजशास्त्र के अध्ययन की प्रमुख विषय–वस्तु समाज के संगठन को समझना है व्यक्ति समूहों में संगठित होते हैं और समूह सामाजिक संस्थाओं द्वारा संचालित होते हैं। समाज की समग्रता को समझने के लिए दो तरीके अपनायें जा सकते हैं : एक तो यह कि हम समाज की छोटी–से–छोटी इकाई अर्थात् कम–से–कम दो व्यक्तियों से प्रारम्भ करें और फिर समूहों के बीच परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए समग्र समाज का बोध प्राप्त करें कि वह किन आदर्शों, मूल्यों, नियमों एवं भूमिकाओं के अनुसार संगठित है। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि हम समग्र से शुरू करें, अर्थात् सामाजिक व्यवस्था को एक इकाई मानकर उसका विश्लेषण करें और धीरे–धीरे लघुतम सामूहिक इकाई तक पहुँचें। समाजशास्त्र में दोनों ही विधियों का प्रयोग होता रहा है (अब्राहम,1992 तथा मार्टिनडेल,1960)।

प्रस्तुत शोधपत्र में पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य के समाज–व्यवस्था पर चिन्तन को बोध और विश्लेषण की दृष्टि से विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार समाज–व्यवस्था पर आचार्य जी का समग्र चिन्तन समाहित हो जाता है।

समाज व्यवस्था : आचार्य जी की दृष्टि में

समाजशास्त्र में समग्र समाज को समझने के लिए एक से अधिक अवधारणाओं का प्रयोग हुआ है, यथा सामाजिक संगठन (Social Organisation) (बेनेडिक्ट, 1960), सामाजिक व्यवस्था (Social System) (पारसन्स, 1972), सामाजिक संरचना (Social Structure) (मुर्डोक, 1949), सामाजिक क्रम या व्यवस्था (Social Order) (बीयरस्टेड, 1970)। समाजशास्त्रियों ने इन अवधारणाओं के बीच सूक्ष्म अन्तर भी किये हैं (फेयरचाइल्ड, 1962 तथा रावत, 2006)। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य श्रीराम शर्मा आचार्य के दृष्टिकोण से सामाजिक व्यवस्था को समझना है।

सर्वप्रथम तो आचार्य जी समाज व्यवस्था को लेकर विश्व में प्रचलित अनेक मतवादों का उल्लेख करते हैं, जिनका प्रणयन मूर्धन्य समाजशास्त्रियों, विचारकों द्वारा किया गया है। उन्होंने इन सिद्धान्तों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया है : (1) उपयोगितावाद; (2) साम्यवाद; (3) व्यक्तिवाद; (4) अराजकतावाद; (5) सामाजिक अनुबन्धवाद; (6) आदर्शवाद; (7) गांधीवाद; (8) समूहवाद; (9)

*एसोसिएट प्रोफेसर, समाज विज्ञान विभाग, महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय, कटनी (म.प्र.); ई–मेलः drspchauhan14@gmail.com; मोबाइल नं. : 7974899958

समष्टिवाद; (10) राजतन्त्र; (11) प्रजातन्त्र और (12) समाजवाद। इन विचारधाराओं के बीच समाज–व्यवस्था के नियमों और उपायों को लेकर विचारकों के बीच मतभेद होना स्वाभाविक है। सबसे अधिक मतभेद शासन की व्यवस्था को लेकर है क्योंकि समाज की संरचना में केन्द्रीय स्थान राज्य का ही होता है। इसलिए शासनतन्त्र की सर्वोत्तम प्रणाली कौन–सी हो ? इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद भी अधिक होते हैं। आचार्य जी मतभिन्नता की स्वाभाविकता को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उनको लेकर विश्व में उत्पन्न हुए तीव्र संघर्षों की आलोचना करते हैं और उन्हें निरर्थक बताते हैं। उन्हीं के शब्दों में : ''उपायों और व्यवस्था नियमों की दृष्टि से वे सब भिन्न–भिन्न हैं, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो इन सबका लक्ष्य एक ही रहा है कि समाज में व्यक्ति सुखी रहें, सब लोग समान रूप से समुन्नति करें तथा कोई किसी के अधिकारों का वंचन न करे। भिन्न–भिन्न मार्गों से एक लक्ष्य तक पहुँचने की बात तो ठीक है, पर इन मार्गों को लेकर संसार में जो संघर्ष होते आये हैं वे ही लक्ष्य तक पहुँचने में प्रमुख रूप से बाधक बन जाते हैं''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 4.21)।

आचार्य जी ने उपर्युक्त समाज व्यवस्था के सिद्धान्तों में से अग्रलिखित मतों की समीक्षा की है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 1.30–1.33) :

1. उपयोगितावाद (Utilitarianism)

आचार्य जी सर्वप्रथम उपयोगितावाद को लेते हैं, जिसके जन्मदाता जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham : 1748-1832) थे। बेन्थम के अनुसार प्रकृति ने मानवजाति को दो स्वामियों सुख और दुःख की अधीनता में रखा है। सुख–दुःख हमें बताते हैं कि हम क्या करें और क्यों करें ? उपयोगिता का अर्थ किसी वस्तु के उस गुण या क्षमता की अभिव्यक्ति है जिससे कि वह कोई दुःख नहीं होने देती या कोई सुख पहुँचाती है। इसलिए वह सब जो व्यक्ति के लाभ या हित के अनुरूप है, उसके सुख की कुल मात्रा बढ़ा सकता है और समाज चूँकि व्यक्तियों से बना है, इसलिए समाज की सुख की कुल मात्रा भी बढ़ जाती है। इस प्रकार बेन्थम के अनुसार व्यक्ति वह व्यवहार करता है जिससे दुःख कम–से–कम हो और सुख अधिक–से–अधिक हो। अतः बेन्थम के समाजदर्शन को सुख और दुःख का गणित कहा जा सकता है। इसी कारण बेन्थम व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। आचार्य जी ने बेन्थम के निम्न शब्दों को उदधृत किया है : ''व्यापार पर राज्य की ओर से कम–से–कम प्रतिबन्ध होना चाहिए। देश की आर्थिक प्रगति की दृष्टि से स्वतन्त्र व्यावसायिक नीति कहीं अधिक श्रेयस्कर है''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 1.30)। बेन्थम उसी शिक्षा के पक्षधर थे जो जीवनोपयोगी हो तथा वे अपराधी को कठोर दण्ड देने के भी विरोधी थे क्योंकि वह अपराधी को सुधारता नहीं बिगाड़ता है। आचार्य जी उपयोगितावाद की आलोचना करते हुए लिखते हैं : ''इस पद्धति से पूँजीवाद को बढ़ावा मिलता है। राज्य का अंकुश न होने से व्यवसायी वर्ग शोषण और दमन की नीति अपनाता है। एक वर्ग धनवान होता जाता है और दूसरा अत्यन्त गरीब। दण्ड की कठोरता न होने से अपराधों को और भी अधिक प्रोत्साहन मिलता है। बेन्थम की सामाजिक नवनिर्माण के लिए दी गयी शासन की रूपरेखा स्वयं में अस्पष्ट है और उसमें सुनिश्चित आचार संहिता का अभाव है। कुछ विचारकों का मत है कि बेन्थम के सिद्धान्त व्यावहारिक कम हैं, सैद्धान्तिक अधिक''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 1.30)।

2. साम्यवाद (Communism)

इस सिद्धान्त के जन्मदाता कार्ल मार्क्स (Karl Marx : 1818-1883) हैं। कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि अब तक का मानव जाति का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है। आदिम काल को

छोड़कर, जब जीवन निर्वाह के साधनों पर कबीले का स्वामित्व होता था, अब तक का समाज दो भागों में विभाजित होता आया है। एक वर्ग वह जो उत्पादन के साधनों का स्वामी है और दूसरा वह सम्पत्ति–विहीन वर्ग जो मेहनत–मजदूरी से जीवन–यापन करता आया है। सम्पत्तिशाली वर्ग अपने ही हित में आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक नियमों और कानूनों की रचना करके सम्पत्तिहीन वर्ग का शोषण करता है। यह परिस्थिति धीरे–धीरे असह्य हो जाती है और वर्ग संघर्ष के द्वारा शोषित शोषकों का अन्त कर देते हैं। कार्ल मार्क्स बढ़ते हुए उद्योगवाद और पूँजीवाद के जन्म से ही साक्षी थे और उन्होंने पूँजीवाद की कठोर आलोचना की है। उन्होंने लिखा है कि बुर्जुवा अथवा पूँजीपति भी अपनी कब्र स्वयं खोद रहे हैं; वर्ग संघर्ष के द्वारा इनका भी अन्त होगा और सर्वहारा वर्ग श्रमिकों का अधिनायकवाद (तानाशाही) स्थापित होगा। आचार्य जी साम्यवाद के सम्बन्ध में लिखते हैं : ''साम्यवाद का प्रमुख लक्ष्य है एक वर्ग विहीन समाज का नवनिर्माण करना। पूँजीवाद का अन्त करके राष्ट्रीय सम्पत्ति या साधनों को व्यक्ति के हाथों से छीनकर समाज के अधिकार में रखना। समस्त आर्थिक असमानताओं को दूर करके नवीन समाज व्यवस्था को जन्म देना, साम्यवाद के अनुसार राज्य का प्रमुख कार्य होगा।

भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त, यातायात के साधनों का राष्ट्रीयकरण, कानून द्वारा मुद्रा का नियन्त्रण, सम्पत्ति के अधिकारों का उन्मूलन, व्यापार तथा वाणिज्य का नियमन, हर प्रकार के एकाधिकार तथा विशेषाधिकार का अन्त करना''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 1.30–1.33)। ये सभी कार्य सर्वहारा वर्ग की तानाशाही द्वारा किया जायेगा। कार्ल मार्क्स के अनुसार यह संक्रमणकालीन व्यवस्था होगी जिसे समाजवाद कहा जा सकता है। धीरे–धीरे वह अवस्था आ जायेगी जब राज्य विलीन हो जायेगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा तथा आवश्यकता के अनुसार उसे समाज द्वारा मिलेगा। यही अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था होगी।

मानवतावादी विचारक मार्क्स के विचारों से आचार्य जी सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार उद्देश्य ठीक होते हुए भी क्रान्ति की हिंसक पद्धति को साधन रूप प्रयोग करने से समाज में शान्ति और सुव्यवस्था कभी कायम नहीं रह सकती। साम्यवाद वैयक्तिक स्वतन्त्रता का गला घोटता है। आज विश्व के प्रमुख साम्यवादी गढ़ ढह चुके हैं और जहाँ कहीं साम्यवादी पार्टी का शासन भी है, शासक वर्ग महसूस करने लगा है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था की दिशा में कुछ परिवर्तन किये जाने आवश्यक हैं। आचार्य जी ने उचित ही लिखा है : ''साम्यवादी विचारधारा उपयोगी होते हुए भी मनुष्य के अन्तरंग को विकसित करने के लिए कोई सुनिश्चित आधार नहीं देती। बाह्य परिस्थितियों का उपभोग, नियन्त्रण एवं सुनियोजन करने वाला तो मनुष्य ही है और जब तक मनुष्य का अन्तरंग पक्ष घटिया एवं हेय स्तर का बना रहेगा, सभ्य, शिष्ट और सुसंस्कृत समाज की कल्पना साकार नहीं हो सकती। मात्रा बाह्य अंकुश एवं परिवर्तन की बात सोचने से काम नहीं चलेगा। यह प्रक्रिया एकांगी होगी। साम्यवाद में मनुष्य के अन्तरंग को विकसित करने, श्रेष्ठ, उदार और उदात्त बनाने वाले तत्व नहीं हैं। जब तक मनुष्य का भीतरी पक्ष समुन्नत नहीं होता, शोषण, संग्रह और दमन की प्रक्रिया चलती रहेगी''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998ः पृ॰ 1.31)।

3. व्यक्तिवाद (Individualism)

इस परिकल्पना के प्रणेता थे जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill : 1806-1873) और हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer : 1820-1903)। इन विद्वानों के अनुसार जीवन, बुद्धि, विचार

आदि मनुष्य की विशेषताएँ हैं। इन्हीं विशेषताओं के सहारे समाज एवं राष्ट्र का प्रत्येक कार्य होता है। इस कारण व्यक्ति को सभी क्षेत्रों में सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिए। व्यक्तिवादी दृष्टि में, सबसे अच्छी सरकार वह है जो कम– से–कम शासन करती है। राज्य का एकमात्र कर्तव्य यह होना चाहिए कि वह ऐसे वातावरण का निर्माण करे, जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपने व्यक्तित्व, चरित्र, विचार और कार्यों का सुसंगठन एवं विकास कर सके ।

आचार्य जी की दृष्टि में व्यक्तिवादी विचारधारा आदर्शवादी एवं श्रेष्ठ होते हुए भी व्यावहारिक नहीं है। उन्हीं के शब्दों में : ''व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तभी उपयोगी एवं विकास में सहायक होती है, जबकि उस पर कठोर आत्म अंकुश हो। आत्म–नियन्त्रण के अभाव में तो अनुशासनहीनता एवं उच्छृंखलता को ही बढ़ावा मिलता है। अतैव जब मनुष्य का व्यक्तित्व इतना परिष्कृत एवं समुन्नत हो जाये कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दुरुपयोग की गुंजाइश न रहे, तब तक एक सीमा तक बाह्य शासकीय नियन्त्रण बनाये रखना ही कहीं अधिक श्रेयस्कर है। .... अविकसित, अशिष्ट, समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सदुपयोग कम दुरुपयोग अधिक होगा''(ब्रह्मवर्चस, सं॰, 1998: पृ॰ 1.31)।

4. अराजकतावाद (Anarchism)

अराजकतावादी प्रतिपादकों में प्रिन्स क्रोपाटकिन (Prince Kropotkin : 1842-1921) तथा माइकेल बकुनिन (Michael Bakunin : 1814-1876) प्रमुख हैं। अराजकतावादी मान्यता है कि राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है। पूँजीवाद का अन्त जब क्रान्ति द्वारा हो जायेगा तो उसके साथ–साथ राज्य का भी अन्त हो जायेगा। उनके अनुसार राज्य अहितकर और शोषक है। इसलिए उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। राज्यविहीन समाज में व्यवस्था कैसे होगी ? अराजकतावाद के अनुसार, प्रत्येक व्यवसाय, व्यापार तथा विविध कार्यों के संचालन के लिए उसमें लगे हुए व्यक्तियों की एक समिति अथवा संघ होगा, जिनको 'कम्यून' कहा जायेगा। इस प्रकार शिक्षा, उत्पादन, उद्योग व्यवसाय आदि विभिन्न कार्यों में लगे व्यक्ति अपने–अपने कम्यून स्थापित करेंगे। कम्यून ऐच्छिक तथा पूर्ण स्वतन्त्र होंगे। प्रत्येक कम्यून स्वयं पदाधिकारियों का चुनाव करे और अपनी नीति निर्धारण करे। एक ही विषय के जिले भर के कम्यूनों को मिलाकर इस विषय की जिला समिति बनेगी। जिला समितियों से प्रान्तीय समिति तथा प्रान्तीय समितियाँ राष्ट्रीय समिति के लिए प्रतिनिधि भेजेंगी। इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर एक राज्य द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यों को ये समितियाँ बाँट लेंगी। आचार्य जी की दृष्टि में यह आदर्शवादी एवं अव्यावहारिक विचार दर्शन है। इसलिए आचार्य जी ने इसकी विस्तृत व्याख्या अथवा आलोचना नहीं की है। यह व्यक्तियों के परिमार्जन करने से पूर्व ही उन्हें अपरिमित अधिकार और दायित्व सौंपना चाहता है।

5. सामाजिक अनुबन्धवाद (Social Contractualism)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में हॉब्स (Thomas Hobbes : 1588-1679) जान लॉक (John Locke : 1632-1704) तथा रूसो (Rousseau J.J. : 1712-1778) हैं। आचार्य जी ने इनके विचारों के विषय में लिखा है : ''सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त के अनुसार मानवीय विकास की आरम्भिक अवस्था में लोग प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। राज्य नाम की कोई संस्था न थी। कालान्तर में समस्याओं एवं असुविधाओं के बढ़ने से राज्य की आवश्यकता अनुभव की गयी तथा राजा एवं प्रजा के बीच एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप राजा को शासन–प्रबन्ध करने का अधिकार मिला। राजा प्रजा की सम्मति एवं स्वीकृति से ही शासन करता है। यदि वह अनुबन्धों को तोड़ता व

अपने दयित्वों का निर्वाह नहीं करता तो प्रजा को अधिकार है कि उसे पदच्युत करके दूसरा शासक नियुक्त करे''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 1.32)। आधुनिक समाज वैज्ञानिक सामाजिक अनुबन्धवादियों की इस मान्यता से सहमत नहीं है कि राज्य का उदय राजा और प्रजा के बीच किसी अनुबन्ध से हुआ होगा। समाज की अन्य संस्थाओं की भाँति किसी–न–किसी रूप में शासन के नियम भी समाज के अस्तित्व की मूलभूत आवश्यकता से ही निसृत हैं और समाज के साथ–साथ ही उनका विकास हुआ है तथापि आचार्य जी के अनुसार प्रजातन्त्र प्रणाली का प्रादुर्भाव सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त से हुआ है।

6. प्रजातन्त्र (Democracy)

आज संसार में सर्वाधिक प्रचलित शासन–प्रणाली प्रजातन्त्र है और वही सर्वाधिक सफल भी है। इस प्रणाली के अनुसार समाज की संप्रभुता और सर्वोच्च सत्ता प्रजा में ही निहित है। चुनाव प्रणाली द्वारा नियत अवधि के लिए प्रजा अपने प्रतिनिधियों का चयन करती है। वे प्रतिनिधि ही शासन की प्रक्रिया चलाते हैं और जनता के प्रति जवाबदेह होते हैं। प्रजातन्त्र की सफलता की अनिवार्य शर्त है कि सम्बन्धित समाज के जनसाधारण सजग और नीतिवान हों। वे अपने सामाजिक और नैतिक दायित्वों के प्रति जागरूक हों। जनता का जैसा स्तर होगा वैसे ही व्यक्ति प्रतिनिधि के रूप में चुने जायेंगे। यदि जनता का स्तर बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से ऊँचा न हुआ तो चुने गये व्यक्ति भी सौंपे गये दायित्वों का निर्वहन न कर सकेंगे। उल्टे अव्यवस्था ही पैदा करेंगे। आचार्य जी ने लिखा है : ''यदि प्रजातन्त्र को सफल बनाना है तो जनता का स्तर ऊपर उठाने के लिए ठोस प्रयत्न करने होंगे और सत्ता ऐसे दूरदर्शी व्यक्तियों के हाथों सौंपनी होगी जो संकीर्ण स्वार्थपरता की सीमा से उपर उठ चुके हों, प्रामाणिक, चरित्रवान हों''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 1.31)।

आचार्य जी के अनुसार वर्तमान प्रजातान्त्रिक प्रणाली जटिल और दोषपूर्ण है और शासनतन्त्र में जनप्रतिनिधियों और अधिकारियों को भ्रष्टाचार फैलाने का अवसर प्रदान करती है। उन्हीं के शब्दों में : ''शासनतन्त्र की वर्तमान प्रजातन्त्र पद्धति कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की कार्यविधियाँ इतनी लम्बी एवं पेचिदा हैं कि उसमें जनसाधारण को छोटे–छोटे कामों के लिए देर तक प्रतीक्षा करनी होती है। इस सन्दर्भ में सरलता उत्पन्न करने के लिए नये सिरे से निर्धारण होने की आवष्यकता है। कर लगाने एवं वसूल करने की पद्धति भी ऐसी होनी चाहिए कि किसी को अनुचित लाभ उठाने का अवसर न मिल सके''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 1.31)।

7. आदर्शवाद **(Idealism)**

आदर्श व्यवस्था के जन्मदाता प्रसिद्ध दार्शनिक 'प्लेटो' (Plato : 427-347 B.C.) हैं। आचार्य जी प्लेटो को उद्धृत करते हुए लिखते हैं : ''मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है। हम अपनी स्वाभाविक मनोवृत्तियों से प्रेरित होकर राज्य को मान्यता देते हैं। राज्य का सच्चा स्वरूप यही है कि वह एक नैतिक संस्था हो। हमारी आत्मोन्नति में सहयोग करना ही उसका कार्य है। राज्य मनुष्यता को पूर्णता की ओर ले जाने में बाह्य परिस्थितियों का निर्माण एवं सुनियोजन करता है। अतएव वह श्रद्धा का पात्र है''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 1.32)। आचार्य जी के अनुसार, ''प्लेटो की परिकल्पना दार्शनिक अधिक, व्यावहारिक कम है। यह शासनतन्त्र, सुनिश्चित प्रणाली एवं आचार संहिता का निर्धारण नहीं करती। अस्तु,

आदर्शवाद के सिद्धान्तों से शासन प्रणाली के निर्धारण में सुनिश्चित दिशाधारा नहीं मिलती''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 1.32)।

8. गाँधीवाद (Gandhism)

भारत के राष्ट्रपिता मोहनदास कर्मचन्द गाँधी (M.K. Gandhi : 1869-1948) इस विचारधारा के जन्मदाता हैं। गाँधी जी की दृष्टि में राज्य अपने को स्वयं साध्य न मानकर, जनता के सर्वांगीण विकास का एक साधन मात्र बनकर अपनी नीतियों का निर्धारण उसके अनुरूप करे, उसके पथ–प्रदर्शक सिद्धान्त अहिंसा पर अवलम्बित हों। यह अपनी शक्ति का प्रयोग कम–से–कम करे और जनता को अधिक–से–अधिक आत्मनिर्भर बनाने का सुअवसर दे। इसलिए गाँधी जी 'स्वराज्य' के पक्षधर हैं, जिसके मार्गदर्शक सिद्धान्त अधिक–से–अधिक विकेन्द्रीकरण तथा लघु उद्योग–धन्धे हैं; उसके केन्द्र में राज्यशक्ति नहीं, लोकशक्ति है। सादा जीवन उच्च विचार ही सर्वोच्च मूल्य है। प्रत्येक गाँव एक गणतन्त्र होना चाहिए। धनिक वर्ग को स्वयं को धन का ट्रस्टी समझना चाहिए और अपनी आवश्यकताओं से अधिक धन को जनता के कल्याण के लिए लगा देना चाहिए। गाँधी जी की विचारधारा को सर्वोदय कहा जाता है, जिसको उनके परम शिष्य विनोबा भावे ने आगे बढ़ाया। स्वतन्त्र भारत के नेतृत्व ने आधुनिकता का मॉडल अपनाया तथा नियोजित औद्योगिकीकरण द्वारा प्रगति करने का प्रयास किया। वह गाँधी जी की विचारधारा से सर्वथा विपरीत था।

आचार्य जी समाज व्यवस्था के उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों का सर्वेक्षण और समीक्षा करने के बाद इन सबसे ऊपर उठते हुए भारत के आदर्श दृष्टिकोण से सहमति जताते हैं। उन्हीं के शब्दों में : ''इन समस्त मतवादों से अलग रहते हुए भारतीय संस्कृति ने आदर्श समाज का जो स्वस्थ स्वरूप रखा है, वह हजारों साल पुराना होने के बाद भी आज भी इतना नवीन है कि विभिन्न मतवादों के बीच होते रहने वाले संघर्षों को देखकर आशा की दृष्टि वहीं जाकर टिकती है। वैदिक विचारधारा किसी समुदाय विशेष की हित–कामना को ही प्रधानता न देते हुए विश्वभर के कल्याण की कामना करती है तथा एक–दूसरे का परस्पर सहयोग द्वारा हित–साधन का उपदेश देती है''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 4.21–4.22)। प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति के दो सूत्र–'आत्मवत् सर्वभूतेषू' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सामाजिक व्यवस्था के मूलमन्त्र रहे हैं। आचार्य जी ने लिखा है : ''प्राचीन काल में अपने यहाँ की व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ थी। हर व्यक्ति औसत दर्जे के जीवन–यापन को धर्म कर्तव्य मानता था। अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के बाद जो धन शेष बचता था उसे स्वेच्छापूर्वक हर व्यक्ति दान के रूप में समाज को लौटा देता था। जो संग्रह करता था उसे सामाजिक घृणा और तिरस्कार का भाजन बनना पड़ता था। आज की भाँति सम्पन्नों को सम्मान देने की ओछी एवं विकृत मनोवृत्ति न थी। दान की प्रतिस्पर्धा चला करती थी। जो समाज के प्रति सहिष्णु और उदार होता था, उसे ही सम्मानित किया जाता था। संग्रह एवं उपभोग पर सामाजिक एवं नैतिक अंकुश रहने से सभी इसे हेय मानते थे। ऐसी स्वप्रेरित उदारता एवं आत्म–अंकुश बना रहे तो किसी भी प्रकार के बाह्य प्रतिबन्ध की आवश्यकता न पड़े''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 1.34)। वस्तुतः आचार्य जी के अनुसार समाज व्यवस्था प्रकृति के नियमों के अनुकूल ही होनी चाहिए। समाज का निर्माण ही व्यक्ति की सामाजिकता और सामूहिकता में है। पारस्परिक सहयोग ही उसका मूल स्रोत है। विकास सहयोग से ही होता है। पारस्परिक सहयोग की ईंटों से ही समाज व्यवस्था के भवन का निर्माण होता है। आचार्य जी के शब्दों में : ''सृष्टि में जहां भी दृष्टि दौड़ाते हैं, संघर्ष का नहीं सहयोग का ही अस्तित्व नजर आता है। संघर्ष

से तो अराजकता, अव्यवस्था फैलती है और विकसित जातियाँ भी पतन के गर्त में मिल जाती हैं''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 5.33)।

इसी सन्दर्भ में आचार्य जी ने चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin : 1809-1882) के विचारों का भी वर्णन किया है जो एक अंग्रेज प्रकृति विज्ञानी थे। डार्विन प्राकृतिक वरण द्वारा जीवों और वनस्पतियों की प्रजातियों की उत्पत्ति के उदविकास–सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जीवों की प्रजातियों का विकास जीवन के लिए संघर्ष के माध्यम से हुआ और वे प्रजातियाँ ही उत्तरजीवी अर्थात अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल हुईं, जो सर्वयोग्य थीं। आचार्य जी के मतानुसार विद्वानों ने डार्विन के जीवन के लिए संघर्ष के सिद्धान्त को बहुत संकुचित अर्थ में लिया, जबकि डार्विन ने स्वयं लिखा है कि 'प्राणियों का अस्तित्व एक–दूसरे के ऊपर निर्भर है।' आचार्य जी के अनुसार संघर्ष का व्यापक अर्थ है कि विभिन्न प्राणी एवं मनुष्य मजबूत एवं समर्थ बनें। यह तथ्य स्थूल कम सूक्ष्म अधिक है। तात्पर्य व्यक्ति से नहीं परिस्थिति से है। आचार्य जी ने अपने दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए स्वयं डार्विन को उदधृत किया है। डार्विन ने लिखा है : ''विकास के क्रम में असंख्य प्राणी समूहों में पृथक–पृथक प्राणियों का आपसी संघर्ष मिट जाता है, संघर्ष का स्थान सहयोग ले लेता है और इसके फलस्वरूप उनका बौद्धिक एवं नैतिक विकास होता है। इस विकास से ही उन प्राणियों का अस्तित्व बने रहने के लिए अत्यन्त अनुकूल अवस्था पैदा होती है''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 5.34)। डार्विन अपने 'योग्यतम की उत्तरजीविता' के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखते हैं : ''ऐसे समुदायों (विकसित प्राणियों में, जैसे मनुष्य) में योग्यतम वे नहीं कहे जाते जो सबसे अधिक बलवान या चालाक हैं, वरन् समर्थ वे हैं जो अपने समाज के हित के लिए निर्बल एवं बलवान सभी की शक्ति को इस तरह संगठित करना जानते हों कि वे एक–दूसरे के पोषक हों''(ब्रह्मवर्चस, सं., 1998: पृ. 5.34)।

इस भाँति, आचार्य जी सामाजिक व्यवस्था के लिए परस्पर सहयोग, परस्पर हितों का समन्वय और सन्तुलन को निर्देशन नियम बताते हैं और लिखते हैं कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखते हुए सभी को विकास के पर्याप्त अवसर मिलें।

टिप्पणी:

1. समाजषास्त्र में पहले तरीके को अर्थात् इकाई से समग्र की ओर उपागम को Micro Sociology कहा गया है और जहाँ समग्र से इकाई की ओर उपागम हो उसे Macro Sociology कहा गया है। इनके अर्थ और विषेशताओं के लिए (देखें: अब्राहम, एम. फ्रांसिस: 1992; मार्टिनडेल, डॉन: 1960)

2. प्रायः मानवषस्त्रियों ने जनजातियों की सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए सामाजिक संगठन की अवधारणा का प्रयोग किया है। (देखें: बेनेडिक्ट, रूथ: 1960)

संदर्भ ग्रंथ सूची

अब्राहम, एम. फांसिस 1992 : *माडर्न सोशियोलोजिकल थ्यौरी :एन इंट्रोडक्शन,* नई दिल्ली: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस

मार्टिनडेल, डॉन 1960: *द नेचर एण्ड टाइप्स ऑफ सोशियोलॉजी,* बोस्टन: हॉटन मैफिन कं0।

बेनेडिक्ट, रूथ 1960: *पैटर्नस ऑफ कल्चर,* न्युयार्क: मेन्टर बुक्स।

पारसंस, टालकट 1972: *द सोशल सिस्टम,* नई दिल्ली: अमेरिन्द पब्लिशिंग कं0।

मुर्डोक, जार्ज पीटर 1949: *सोशल स्ट्रकचर,* न्युयार्क: मैकमिलन।

बीयरस्टेड, राबर्ट 1970: *द सोशल आर्डर,* नई दिल्ली: टाटा मैक्ग्रा हिल पब्लिशिंग कं0 लि0।

फेयरचाइल्ड, हेनरी प्रैट 1962: *डिक्षनरी ऑफ सोषियोलॉजी,* न्यु जर्सी: एडम एण्ड कं0,इंक।

हरिकृष्ण रावत, 2006: *उच्चतर समाजशास्त्र विश्वकोश,* जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स।

ब्रह्मवर्चस (सं.), 1998: पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय, *भव्य समाज का अभिनव निर्माण,* (खण्ड सं. 46), मथुरा : अखण्ड ज्योति संस्थान,